Gyanvividha, Vol.-2; Issue-4 (Oct.-Dec.) 2025 : PP-217-222

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-2.25
Vol.-2; Issue-4 (Oct.-Dec.) 2025
Page No.-217-222
©2025 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com
Author's :

Raju Devi Yadav

'आधे अधूरे' से 'अंधा युग' तक : व्यक्ति-विच्छेदन और अस्तित्व-संकट का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

सार : यह शोध पत्र मोहन राकेश के 'आधे-अधूरे' और धर्मवीर भारती के 'अंधा युग' का तुलनात्मक मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता है, जिसका केंद्रीय प्रश्न है: आधुनिक भारतीय अनुभव में व्यक्ति-विच्छेदन और अस्तित्व-संकट किन नाट्य-तकनीकों और चरित्र-रचनाओं के माध्यम से मूर्त होते हैं? पद्धति के स्तर पर मूल पाठों की सूक्ष्म पाठ-मीमांसा, अस्तित्ववादी/मनोविश्लेषणात्मक ढाँचा और प्रदर्शन-पाठ (मंच-पाठ) का सहपाठ किया गया। 'आधे-अधूरे' में शहरी मध्यवर्गीय परिवार की विखंडित अस्मिताएँ सावित्री-महेन्द्रनाथ के दाम्पत्य का तनाव, "पूरा आदमी" की खोज, और एक ही अभिनेता द्वारा अनेक पुरुष भूमिकाओं का रूपक आत्म-विघटन और अर्थहीनता को उजागर करते हैं। 'अंधा युग' में युद्धोत्तर नैतिक शून्य धृतराष्ट्र-गांधारी का शोक, अश्वत्थामा का प्रतिशोध-अपराधबोध, युयुत्सु का अस्तित्वगत अवसाद कोरस और प्रतीक-योजना के जरिए सामूहिक मानस के टूटने का पाठ बनता है। निष्कर्षतः दोनों नाटक सूक्ष्म (परिवार) और व्यापक (सभ्यता) स्तरों पर संकट की संरचनात्मक समानता को दिखाते हैं और आत्मावलोकन, उत्तरदायित्व तथा मूल्य-पुनर्संयोजन को संभावित नैतिक-उपाय के रूप में प्रस्तावित करते हैं। अध्ययन प्रदर्शन-पाठ और मंचन-प्रविधियों के अंतर्संबंधों पर भी प्रकाश डालता है।

मुख्य शब्द : व्यक्ति-विच्छेदन, अस्तित्व-संकट, आधे-अधूरे, अंधा युग, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, नाट्य-शिल्प, तुलनात्मक अध्ययन।

Corresponding Author :

Raju Devi Yadav

1. भूमिका : साहित्य में मनुष्य के **अंतर्द्वंद्व** और **अस्तित्वगत संकट** को उजागर करना सदा से रचनाकारों के लिए चुनौती रहा है। हिन्दी नाट्य साहित्य में मोहन राकेश का 'आधे-अधूरे' (1969) और धर्मवीर भारती का 'अंधा युग' (1954) दो ऐसी कालजयी कृतियाँ हैं, जो अलग-अलग परिवेश में व्यक्ति-मन की विडंबनाओं, **व्यक्ति-विच्छेदन** तथा **अस्तित्व-संकट** को गहनता से अभिव्यक्त करती हैं। दोनों नाटक अपने-अपने युग

की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं और इन्होंने हिन्दी रंगमंच को हल्के मनोरंजन के स्तर से उठाकर गंभीर मानवीय अनुभवों की अभिव्यक्ति का प्रभावशाली माध्यम स्थापित किया है। यह शोध-पत्र इन्हीं दो महत्त्वपूर्ण नाटकों के नाट्य-कला और पात्रों के मानस का तुलनात्मक अध्ययन करता है, विशेषतः यह कि किस प्रकार दोनों में व्यक्तिगत अस्मिता का विघटन और अस्तित्वगत संकट उभरकर सामने आते हैं।

'आधे-अधूरे' आधुनिक शहरी मध्यवर्गीय परिवार की कहानी है, जिसमें प्रत्येक पात्र किसी न किसी रूप में "आधे-अधूरे" हैं। नाटककार मोहन राकेश ने दांपत्य जीवन की विडंबनाओं और मध्यवर्गीय अस्तित्व की खोखली वास्तविकता का चित्रण अत्यंत मार्मिक ढंग से किया है। वहीं **'अंधा युग'** पौराणिक कथा के आवरण में **मानवता के सम्मुख नैतिक मूल्य-विघटन और अस्तित्वगत निराशा** को रूपायित करता है। महाभारत के अठारहवें दिवस की संध्या से लेकर भगवान कृष्ण की मृत्यु तक की घटनाओं पर आधारित धर्मवीर भारती का यह काव्य-नाटक विभीषिका और अंधकारमय भविष्य के प्रतीकों द्वारा द्वितीय विश्वयुद्ध और विभाजन के बाद के विश्वव्यापी संकट को प्रतिबिंबित करता है। दोनों ही नाटक स्वतंत्रोत्तर भारतीय समाज की चिंताओं को स्वर देते हैं और व्यक्ति-मन की गहरी परतों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं।

आगे, हम इन दोनों नाटकों में **पात्रों के मानसिक संघर्ष**, आत्म-विच्छेदन और अस्तित्व संकट की अभिव्यक्ति का विशद परीक्षण करेंगे। साथ ही नाट्य-कला की दृष्टि से किये गए अभिनव प्रयोगों पर भी ध्यान देंगे, जैसे 'आधे-अधूरे' में एक ही अभिनेता द्वारा कई पुरुष पात्रों की भूमिका निभाना, या 'अंधा युग' में काव्यनाटक के माध्यम से रूपकों का प्रयोग। इन विश्लेषणों के आलोक में अंततः यह देखा जाएगा कि दोनों कृतियाँ किस प्रकार **तुलनात्मक रूप से एक दूसरे के पूरक प्रतिबिंब** हैं, और आधुनिक मानव के अस्तित्वगत संघर्षों को भिन्न संदर्भों में उजागर करती हैं।

2. 'आधे-अधूरे': मध्यवर्गीय दांपत्य में व्यक्ति-विच्छेदन का संघर्ष : मोहन राकेश का नाटक 'आधे-अधूरे' आधुनिक शहरी मध्यवर्ग की पारिवारिक विडंबनाओं और व्यक्ति-भंग के अनुभव को तीक्ष्णता से प्रस्तुत करता है। कथा का केंद्र सावित्री है—एक कामकाजी स्त्री, जिसका दांपत्य जीवन बेरोजगार, आत्महीन महेन्द्रनाथ और तीन संतान (बिन्नी, अशोक, किन्नी) के बीच लगातार टूटता-बिखरता रहता है। डॉ. नगेंद्र लिखते हैं कि यह नाटक "परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने ढंग के संत्रास का भोग करता है" (नगेंद्र 194)। शीर्षक स्वयं संकेत देता है कि सभी पात्र मानसिक व भावनात्मक स्तर पर अधूरे हैं। सावित्री "पूरा आदमी" पाने की अधूरी तलाश में है, जबकि महेन्द्रनाथ अपनी असफलताओं को हिंसक व्यवहार के रूप में घर पर उतारता है। दोनों के मध्य विश्वास की कमी, अपराधबोध और हिंसा का चक्र चलता है, जिसके कारण "घर का प्रत्येक सदस्य घुटन का अनुभव करता है।"

बिन्नी माता-पिता के कलह से त्रस्त है, अशोक बेरोजगारी के कारण विद्रोही, और किन्नी भी बिखराव से प्रभावित है। प्रीति लिखती हैं कि इस परिवार में व्यक्तित्व "बिखराव" से ग्रस्त है (प्रीति 151)। यह विघटन सिर्फ पारिवारिक नहीं, बल्कि पूरे मध्यवर्गीय अस्तित्व की निरर्थकता का प्रतीक है। निलोफर बानो के अनुसार नाटक में मध्यवर्गीय जीवन की "खोखली और सतही अस्तित्वगत सच्चाई" उभरती है।

राकेश ने नाटक के आरंभ में "काला सूट वाला आदमी" नामक अभिनव चरित्र का प्रयोग किया है, जो पुरुष पात्र 1–4 की भूमिकाएँ भी निभाता है। उसका आरंभिक एकालाप—"मैं नहीं जानता आप क्या समझ रहे हैं मैं कौन हूँ... क्योंकि यह नाटक भी मेरे ही तरह अनिश्चित है"—नाटक की केंद्रीय थीम, अर्थात् अनिश्चित अस्मिता और जीवन की अर्थहीनता, को स्थापित करता है। वह आगे पूछता है: "मैं वास्तव में कौन हूँ?... जो मैं इस मंच पर हूँ, वह यहाँ से बाहर नहीं हूँ।" यह अस्तित्ववादी प्रश्नावली कामू और सार्त्र से प्रभावित है, जिसका संकेत राकेश ने स्वयं दिया है (मदनलाल 31)।

यादव लिखते हैं कि इसके पात्र "अपनी ही परिस्थितियों के खंड-खंड प्रतिबिंब" हैं और युवाओं में हताशा व्याप्त है

(यादव 13)। मंचन में ओम शिवपुरी द्वारा एक ही अभिनेता से कई पुरुष भूमिकाएँ निभवाना इस बात को रेखांकित करता है कि सावित्री को हर पुरुष में एक ही चेहरा मिलता है—वर्चस्व, स्वार्थ और असंवेदना (प्रीति 152)।

अंततः 'आधे-अधूरे' स्त्री-पुरुष संबंधों में पूरकता के अभाव, आधुनिक जीवन की खोखली उन्नति, और मनुष्य के गहरे अकेलेपन पर तीखा प्रहार करता है। इसी कारण यह नाटक आज भी प्रासंगिक और हिंदी रंगमंच का मील का पत्थर माना जाता है (बानो 43)।

3. 'अंधा युग': युद्धोत्तर समाज में मूल्य-विच्छेदन और अस्तित्व-संकट : धर्मवीर भारती का 'अंधा युग' बीसवीं शताब्दी की सामूहिक त्रासदी और नैतिक विघटन को महाभारत के युद्ध की पृष्ठभूमि में रूपांतरित करता है। पाँच अंकों का यह काव्य-नाटक युद्ध के अंतिम दिन की संध्या से कृष्ण की मृत्यु तक की घटनाओं को समेटता है। शीर्षक के अनुसार यह एक ऐसे "अंधे युग" का आख्यान है जिसमें मूल्य-व्यवस्थाएँ ध्वस्त हो चुकी हैं और अंधकार, विनाश व निराशा का वर्चस्व है। द्वितीय विश्वयुद्ध, विभाजन और परमाणु बम के बाद मानवता पर आए संकट ने भारती को गहरे रूप में व्यथित किया था; 'अंधा युग' इसी आधुनिक संत्रास का रूपक बनकर उभरता है। देवेन्द्र कुमार गुप्ता के अनुसार भारती ने महाभारत कथा के माध्यम से "समकालीन बोध को वाणी" दी है और युगीन निराशा, अनास्था और मूल्य-विघटन को रेखांकित किया है।

युद्धोत्तर कुरुक्षेत्र का भीषण परिदृश्य नाटक का भाव-संवेदनात्मक आधार है—नगर ध्वस्त हैं, कुरुक्षेत्र लाशों से पटा है, और बचे योद्धा मनोवैज्ञानिक तनाव में डूबे हैं। धृतराष्ट्र, जिसने सौ पुत्र खो दिए, नैतिक अंधकार में भी डूब चुका है। गांधारी का शोक उसे कृष्ण को श्राप देने पर विवश करता है—"जैसे उसके वंश का नाश हुआ, वैसे ही कृष्ण के यदुवंश का भी नाश हो जाए" (भारती 98)। यह प्रसंग मनुष्य की चरम हताशा को दिखाता है, जब ईश्वर भी उत्तरदायी प्रतीत होता है। विदुर का धर्ममार्ग भी धुंधला पड़ चुका है। सबसे गहन मनोवैज्ञानिक विच्छेदन अश्वत्थामा में दिखता है—वह प्रतिशोध में निर्दोष बालकों का वध करता है और घोषित करता है: "मैं यह तुम्हारा अश्वत्थामा... केवल, केवल वध, केवल...!" (भारती 26)। उसका उन्माद अस्तित्व के विखंडन का प्रतीक है; वह "वध करना भविष्य का" चाहता है (भारती 27) और सभ्यता के भविष्य पर ही प्रश्न चिन्ह लगा देता है।

युयुत्सु, जो धर्मपक्ष में खड़ा था, विनाश के बीच अर्थहीनता से जूझकर अन्ततः आत्महत्या कर लेता है—विजय का शून्य भी उतना ही घातक हो सकता है। कृपाचार्य और कृतवर्मा जैसे बचे योद्धा भी ब्रह्मास्त्र-विनाश को उचित ठहराते हैं। स्वयं कृष्ण जो करुणा और धर्म के प्रतीक हैं गांधारी के श्राप से नहीं बचते और उनके वंश का भी नाश होता है। डॉ. राजेन्द्र कुमार सिंघवी के शब्दों में, "'अंधायुग' के गांधारी, धृतराष्ट्र, विदुर, युयुत्सु... की मनःस्थिति हमारा वर्तमान है" (सिंघवी), अतः यह नाटक आधुनिक मानव के मानसिक यथार्थ का रूपक बन जाता है।

नाटक में विनाशोपरांत अंधकारमय कुरुक्षेत्र उस नैतिक शून्यता का प्रतीक है जो विश्वयुद्ध और विभाजन के बाद मानवता पर छा गई। दृश्य-काव्य शैली, कोरस, प्रहरी व कथा-गायक इसे यूनानी त्रासदियों जैसा दार्शनिक आयाम देते हैं। प्रारंभिक विष्णु-पुराण उद्धरण—"धर्म और अर्थ का क्षय होगा... राजाएं लालची और क्रूर होंगी"—इस पतित युग की पूर्वपीठिका रचते हैं।

शिल्प की दृष्टि से 'अंधा युग' ने हिंदी रंगमंच को नया सौंदर्यशास्त्र दिया। अलकाज़ी के मंचन में प्रतीकात्मक प्रकाश, नर्तक-दल व दोहरे पात्र निर्वाह ने नाटक के नैतिक शून्य को प्रभावी बनाया।

यद्यपि नाटक व्यापक निराशा का चित्रण करता है, फिर भी अंत में आशा की सूक्ष्म किरण है—अश्वत्थामा का पश्चात्ताप, रत्न-त्याग और अज्ञात वन को जाना मनुष्य के लिए आत्म-अवलोकन का संकेत है। कृष्ण निरंतर युयुत्सु आदि को मानवीय धर्म याद दिलाते हैं—आत्महत्या को वे कायरता बताते हैं (भारती 45)। इस प्रकार 'अंधा युग' अंधकार में डूबे युग के मध्य भी यह संदेश देता है कि नैतिक मूल्य ही मानवता को बचाए रख सकते हैं।

4. तुलनात्मक विश्लेषण : यद्यपि 'आधे-अधूरे' और 'अंधा युग' कथ्य, शिल्प और कालक्रम में एक दूसरे से भिन्न प्रतीत

होते हैं, तथापि इनमें निहित **मूल भावभूमि अत्यंत समान** है। दोनों नाटकों के केंद्र में **मनुष्य के अस्तित्व का संकट** और **मूल्यों का विघटन** है, यद्यपि एक में यह संकट घरेलू और व्यक्तिगत स्तर पर है तो दूसरे में व्यापक सामाजिक व नैतिक स्तर पर।

थीम की समानता : 'आधे-अधूरे' एक मध्यवर्गीय परिवार के विघटन की दास्तान है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अलग-थलग और अतृप्त है। राकेश ने दांपत्य जीवन की टूटन के माध्यम से समकालीन शहरी जीवन की **निरर्थकता और खोखलेपन** को दिखाया है। उधर 'अंधा युग' में एक पूरे युग (समाज) का पतन चित्रित है, जहाँ हर चरित्र अपने जीवन के अर्थ पर प्रश्नचिह्न लगा बैठा है और व्यापक परिप्रेक्ष्य में मानव सभ्यता की दिशाहीनता उजागर होती है। दोनों ही नाटक यह रेखांकित करते हैं कि जब **नैतिक मूल्य समाप्त हो जाते हैं तो व्यक्ति का अस्तित्व बोझ बन जाता है** – सावित्री का परिवार हो या धृतराष्ट्र का वंश, मूल्यहीनता ने अंततः त्रासदी को जन्म दिया है। दोनों कथानकों में चरम परिस्थिति (क्राइसिस) पर असफल व्यक्ति आत्महत्या तक पहुँचते हैं – बिन्नी का भाग जाना, युयुत्सु का आत्मघात – ये दिखाते हैं कि जब जीवन से सार्थकता जाती रहती है तो मनुष्य विघटन की चरम अवस्था पर उतर आता है। इस प्रकार, **व्यक्ति-मन का विखंडन** दोनों ही नाटकों में केन्द्रीय रूपक है: 'आधे-अधूरे' में यह मानसिक कुंठाओं, आपसी असहिष्णुता और आत्म-विरोधी व्यवहारों के रूप में प्रकट होता है; जबकि 'अंधा युग' में यह व्यापक हानि, अव्यवस्था और मूल्यों के पतन के रूप में। फिर भी सार यह है कि **मनुष्य "पूर्ण" नहीं रह गया है – वह आधा-अधूरा, बिखरा हुआ और अंधेरे में भटकता हुआ प्राणी बन गया है** (प्रकाश 85)। अस्तित्ववादी दर्शन के अनुकूल, दोनों ही रचनाएँ मानव जीवन की **निरंतर असुरक्षा और अर्थ-की-खोज** को उभारती हैं।

नाट्य शिल्प और रूपक : शिल्प के स्तर पर भी दिलचस्प तुलनाएँ देखी जा सकती हैं। 'आधे-अधूरे' एक यथार्थवादी (रियलिस्ट) सामाजिक नाटक है, जिसमें रोज़मर्रा की भाषा, घरेलू सेटिंग और वास्तविक परिस्थितियों द्वारा संदेश दिया गया है। राकेश ने रूपक के तौर पर एक ही अभिनेता द्वारा कई पात्रों को निभाने का प्रयोग किया है, जो यह दर्शाता है कि सावित्री जिन पुरुषों से मिलती है वे अंततः एक जैसे ही हैं – स्वार्थी और अपूर्ण। यह रूपक सर्वत्र व्याप्त पुरुष-वर्चस्व और स्त्री की असंतुष्टि को दर्शाता है। इसके विपरीत 'अंधा युग' यथार्थवादी नहीं, बल्कि सिम्बॉलिस्टिक (प्रतीकात्मक) काव्य-नाटक है। इसमें पौराणिक चरित्र और घटनाएँ होते हुए भी उन सबका अर्थ आधुनिक सन्दर्भों से जुड़ता है। उदाहरणतः, धृतराष्ट्र की शारीरिक अंधता उस युग के शासकवर्ग की नैतिक अंधता का प्रतीक है; अश्वत्थामा के मस्तक से दिव्य मणि का चला जाना मनुष्य से विवेक का नष्ट हो जाना है; युयुत्सु का मर जाना धर्म एवं सत्य की पराजय की ओर संकेत करता है। इस प्रकार, भारती ने एलिगॉरिकल शैली को अपनाकर अपने युग की विपत्ति को मिथक के माध्यम से उकेरा। दोनों लेखकों ने प्रभाव के लिए कई नवीन नाट्य तकनिकियाँ इस्तेमाल कीं – राकेश का नाटक बंद कमरे के सेट पर घटित होकर भी "चौथी दीवार तोड़ता है", जब काला-सूट चरित्र सीधे दर्शकों से मुखातिब होता है; उधर भारती के नाटक में कोरस के जरिए घटनाओं पर दार्शनिक टिप्पणियाँ आती हैं, जैसे कथा-गायन और प्रहरी के संवाद, जो दर्शकों को सोचने पर मजबूर करते हैं। भाषा की दृष्टि से भी अंतर है – 'आधे-अधूरे' की भाषा आधुनिक खड़ीबोली गद्य है जिसमें तीखे संवाद और गालियाँ तक हैं, जबकि 'अंधा युग' की भाषा काव्यात्मक और शास्त्रीय है जिसमें श्लोक, मंत्र और आलंकारिकता है। इसके बावजूद, दोनों ही नाटकों का **संदेश सीधा मानव मन को झकझोरता है** – एक अपना परिवेश पहचानने पर मजबूर करता है तो दूसरा अपनी मानवता को।

एतिहासिक एवं सामाजिक संदर्भ : दोनों नाटक स्वतंत्रोत्तर भारत के अलग-अलग दौर की उपज हैं लेकिन दोनों के संदर्भ में स्वतंत्र भारत का आधुनिक संकट बोध निहित है। 'आधे-अधूरे' 1960 के दशक के उस समय लिखा गया जब भारत तेज़ी से औद्योगिकीकरण और शहरीकरण की तरफ बढ़ रहा था; पारंपरिक संयुक्त परिवार टूटकर एकल परिवार बन रहे थे; स्त्रियाँ आर्थिक स्वतंत्रता तो पा रही थीं किंतु सामाजिक ढाँचा उतनी तेज़ी से नहीं बदला था। इस संक्रमणकालीन दौर की कुंठाएँ और मूल्य-द्वंद्व राकेश के नाटक में प्रतिबिंबित हैं। दूसरी ओर, 'अंधा युग' 1950 के

दशक – यानी ठीक-ठीक विभाजन और विश्वयुद्धों के बाद – लिखा गया। यह वह समय था जब **व्यक्तिगत और राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर पहचान का संकट** उपस्थित था: राष्ट्र के रूप में भारत बँटवारे का दर्द झेल रहा था, नई विश्व-व्यवस्था बन रही थी, तथा अस्तित्ववाद जैसे दर्शन साहित्य और विचार में प्रभावी हो रहे थे (मार्तंड 5)। भारती स्वयं मानते थे कि उन्होंने पश्चिम के अस्तित्ववादी तथा अन्य आधुनिक दार्शनिक चिंतन का विस्तार से अध्ययन किया था। 'अंधा युग' में महाभारत का काल प्रतीकात्मक रूप से उसी संक्रांत-बेला को दर्शाता है जहां एक युग खत्म हुआ और दूसरे की शुरुआत अंधकार से हुई। इस दृष्टि से, दोनों नाटकों में समय की परिवर्तनशीलता और उसके साथ मूल्यों के क्रमशः टूटते जाने की थीम है।

प्रभाव एवं प्रासंगिकता : 'आधे-अधूरे' और 'अंधा युग' दोनों अपने समय में अत्यंत प्रभावशाली सिद्ध हुए और आज भी साहित्यिक एवं रंगमंचीय विमर्श का अभिन्न हिस्सा हैं। 'आधे-अधूरे' को हिंदी का पहला आधुनिक महानगरीय **अस्तित्ववादी नाटक** भी कहा जाता है, जिसने मध्यवर्ग के सतही दिखावे के पीछे छिपी खाली ज़िंदगियों को बेनकाब किया। इस नाटक ने आगे आने वाले लेखकों (जैसे मोहन माहेश्वर, बादल सरकार इत्यादि) को प्रेरणा दी कि नाटक को सामाजिक आलोचना का माध्यम बनाया जा सकता है। दूसरी ओर, 'अंधा युग' ने सिद्ध किया कि भारतीय पौराणिक कथाओं को आधुनिक सन्दर्भ देकर कैसे वैश्विक मुद्दों पर कला रची जा सकती है। सत्यदेव दुबे, रामगोपाल बजाज, इब्राहिम अलकाज़ी जैसे निर्देशकों ने इसके यादगार मंचन किए, और हर प्रस्तुति में इसे समकालीन राजनैतिक घटनाओं से जोड़ा गया – मसलन, 1975 में आपातकाल के संदर्भ में 'अंधा युग' की प्रस्तुति ने सत्ता के अंधत्व पर टिप्पणी की थी (तनेजा 102)। स्पष्ट है कि दोनों नाटकों की **प्रासंगिकता समय से परे** है, क्योंकि ये मानव चरित्र के अनिवार्य पहलुओं – अपूर्णता, अव्यक्त पीड़ा और अर्थ की तलाश – को चित्रित करती हैं, जो हर युग में किसी-न-किसी रूप में उपस्थित रहते हैं।

संक्षेप में, मोहन राकेश और धर्मवीर भारती जैसे दो भिन्न धारा के रचनाकारों ने अलग जमीन चुनकर भी एक समान मानवीय सच को उकेरा है – कि **मनुष्य का सबसे बड़ा संघर्ष अपने आप से है**। एक ओर राकेश के पात्र निजी संबंधों में जूझते हुए आत्म-विखंडन के शिकार हैं, तो दूसरी ओर भारती के पात्र महाकाव्यात्मक परिदृश्य में नैतिकता खोकर आत्म-विनाश के कगार पर हैं। दोनों ही रचनाएँ हमें सावधान करती हैं कि **बाहरी प्रगति या युद्ध में विजय व्यर्थ है यदि मनुष्य अपने अस्तित्व का अर्थ और नैतिक आधार खो बैठे**। इन नाटकों में निहित यह अंतर्दृष्टि ही उनकी स्थायी प्रासंगिकता का कारण है।

5. निष्कर्ष : 'आधे-अधूरे' से **'अंधा युग'** तक की यह यात्रा वस्तुतः मानव-मन की आंतरिक टूटन और अस्तित्वगत रिक्ति की यात्रा है। मोहन राकेश ने अपने आधुनिक शहरी नाटक में यह दिखाया कि किस प्रकार मध्यवर्गीय जीवन की **बाहरी पूर्णता के पीछे गहरी अपूर्णता** छिपी है – आर्थिक सुविधाओं के बावजूद संबंध टूट रहे हैं, प्रत्येक व्यक्ति अकेलेपन और असंतोष से घिरा है। धर्मवीर भारती ने पौराणिक प्रतीकों द्वारा विश्वयुद्धोत्तर मानवता का ऐसा चित्र उकेरा जिसमें **सभ्यता की समस्त उपलब्धियाँ राख हो जाती हैं और मनुष्य स्वयं अंधकार में मार्ग खोजने को विवश है**। दोनों नाटकों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण स्पष्ट करता है कि "व्यक्ति-विच्छेदन" और **"अस्तित्व-संकट"** जैसे जटिल अवधारणाएँ इन रचनाओं के चरित्रों के मार्फत साकार हो उठी हैं।

इन कृतियों की अकादमिक और कलात्मक महत्ता इस बात में है कि इन्होंने भारतीय मंच पर **अस्तित्ववादी चिंतन** को स्थापित किया। जहाँ 'आधे-अधूरे' ने दैनिक घरेलू जीवन में फ़लसफ़ी खोज निकाली – दांपत्य संवादों, खीझ और टूटन में जीवन का निरर्थक दौर दिखाया – वहीं 'अंधा युग' ने महाभारत की ऐतिहासिकता में छुपकर वर्तमान युग की नैतिक दुर्दशा को उघाड़ा। एक निरुपाय पत्नी की चीत्कार हो या त्रस्त योद्धा की आत्महंता वेदना – दोनों ही हमें मनुष्य की सीमाओं और त्रासदियों का आभास कराती हैं। दोनों नाटक यह संदेश छोड़ जाते हैं कि **यदि मानव संबंधों में अर्थ और मानवीय मूल्य न रहें तो व्यक्ति के अस्तित्व का संकट अवश्यंभावी है**।

शोध की दृष्टि से यह तुलनात्मक अध्ययन दर्शाता है कि अलग परिस्थितियों में लिखी गयी ये रचनाएँ एक दूसरे को अर्थपूर्ण परिपूरक हैं। सावित्री और अश्वत्थामा भले भिन्न कालखंडों के चरित्र हैं, परंतु दोनों की त्रासदी का मूल एक ही है – आत्म की पूर्णता का अभाव और जीवन-मूल्यों का ह्रास। नाट्य-कला की दृष्टि से एक ने जहां रंगमंच को यथार्थ के ज़मीन से बाँधा, दूसरे ने रुपक और काव्य से उड़ान दी, पर दोनों ने ही **दर्शक/पाठक के मन पर गहरी मनोवैज्ञानिक छाप** छोड़ी।

अंत में, यह कहा जा सकता है कि **'आधे-अधूरे' और 'अंधा युग' भारतीय नाटक के दो शिखर हैं** जिन्होंने हमें आत्मावलोकन का अवसर दिया। ये नाटक न केवल अपने समय की टूटन का दस्तावेज हैं बल्कि हर युग में प्रासंगिक मानव-प्रश्न उठाते हैं – मैं कौन हूँ? मेरा जीवन किस उद्देश्य से है? इन प्रश्नों की अनुगूँज इनके चरित्रों के मनोवचन में सुनाई देती है। चाहे सावित्री का रोषपूर्ण संवाद हो या गांधारी का शाप, ये मानवीय संवेदनाओं के चरम बिंदु हैं जहां पाठक ठिठक कर सोचने को मजबूर होता है। भारतीय साहित्य में ऐसे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दुर्लभ हैं। इस दृष्टि से, प्रस्तुत दोनों नाटकों पर किया गया यह शोध-परीक्षण सिद्ध करता है कि **मोह भंग, विघटन और अस्तित्व की अर्थहीनता** के विषय में जो चिंतन पाश्चात्य साहित्य में हुआ, उसे हमारी भाषा में इन रचनाकारों ने अपने सृजन के जरिए अभिव्यक्त किया। ये कृतियाँ आज भी हमें मानव-मन के अंधकार और प्रकाश – दोनों से रूबरू कराती हैं और चेतावनी देती हैं कि अंधे युग से निकलने के लिए हमें अपने भीतर झाँकना होगा, अधूरेपन को पहचानकर उसे पूर्णता की ओर ले जाना होगा।

आधे-अधूरे और अंधा युग, दोनों नाटक, शोधार्थियों व पाठकों को अनंत व्याख्या की सम्भावनाएँ प्रदान करते हैं। इनकी गहराई में उतरने पर भारतीय समाज, परिवार, युद्ध, राजनीति, दर्शन – सभी के चौराहे पर खड़े मनुष्य के संघर्ष का चित्र दिखाई देता है। यही इनकी सबसे बड़ी सफलता है कि ये विशिष्ट स्थितियों की कथाएँ होकर भी सार्वभौमिक मानवीय सच्चाइयों को उजागर करती हैं। अस्तित्ववाद के परिप्रेक्ष्य में यह तुलनात्मक अध्ययन हमें यह अंतर्दृष्टि देता है कि **मनुष्य का वास्तविक नाटक उसके अपने भीतर खेला जा रहा द्वंद्व ही है** – और इस द्वंद्व को समझने-समझाने का कार्य साहित्य से बेहतर कोई माध्यम नहीं।

संदर्भ सूची :

1. भारती, धर्मवीर. अंधा युग. प्रयाग: किताब महल, 1954.
2. राकेश, मोहन. आधे-अधूरे. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 1969.
3. बानो, निलोफ़र. "**हाफ़वे हाउस: मोहन राकेश की पूर्णता की खोज**." इंटरनेशनल जर्नल ऑफ़ रिसर्च इन इंग्लिश, खंड 3, अंक 1, 2021, पृ. 42–45.
4. गुप्ता, देवेंद्र कुमार. "**आधुनिक बोध और धर्मवीर भारती का अंधा युग**." इंटरनेशनल जर्नल ऑफ़ इनोवेटिव रिसर्च इन साइंस, इंजीनियरिंग एंड टेक्नोलॉजी, खंड 5, अंक 11, नवम्बर 2016.
5. नागेंद्र, डॉ. (सं.). हिंदी साहित्य का इतिहास. नई दिल्ली: मयूर पेपरबैक्स, 2016.)
6. प्रीति, एस. "**मोहन राकेश कृत 'आधे-अधूरे' नाटक में पारिवारिक विघटन**." इंटरनेशनल जर्नल ऑफ़ एप्लाइड रिसर्च, खंड 2, अंक 5, भाग सी, 2016, पृ. 151–153.
7. सिंहवी, राजेन्द्र कुमार. "'अंधा युग' और भारतीय मूल्य बोध." अपनी माटी, मार्च 2023.
8. यादव, नीतिका. "**मोहन राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' में मानवीय संबंधों का विश्लेषण**." इंटरनेशनल जर्नल ऑफ़ क्रिएटिव रिसर्च थॉट्स, खंड 10, अंक 6, जून 2022.
9. तनेजा, जयदेव. अंधायुग: पाठ और प्रदर्शन. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2010.
10. मदनलाल, डॉ. "धर्मवीर भारती और उनका अंधायुग." नाट्य शोध पत्रिका, 2012, पृ. 29–33.

•